

हिंदी सिनेमा और उसका अध्ययन : यूनिट-2

आजादी के पहले का सिनेमा

“किसी को भी अपना शुरुआती इतिहास याद नहीं रहता। क्या यह महज संयोग नहीं है कि शुरुआती दौर की बहुत कम फ़िल्में हमें याद हैं। बताया जाता है कि मूक दौर में 1288 फ़िल्में बनी थीं, लेकिन उनमें से मात्र 13 फ़िल्में ही राष्ट्रीय अभिलेखागार में मिलती हैं। बाकी को हम भूल गए या भुला दिया। कहा जाता है कि गर्भकाल और शिशुकाल बहुत प्रतंत्र और कष्टमय होता है, इसलिए यह बेहतर है कि उसे भुला दिया जाए। प्रकृति ने कुछ ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि हम स्वतः अपने बीज और शिशु दौर को भूल जाते हैं। वैसे उन दिनों में जो फ़िल्में आईं, उनके नाम और परिचय तो हमें मिलते ही हैं और उनके दम पर भी हिंदी फ़िल्मों का इतिहास बनता है।”¹

सिनेमा अपने आप में ही एक ‘नए यथार्थ’ का आरंभ है। भारतीय सिनेमा के आरंभ की बात करें तो इसकी शुरुआत मूक फ़िल्मों से हुई। 28 सितम्बर 1895 को लुमियर बन्धुओं ने एक ऐसी मशीन से दुनिया को परिचित कराया जो तस्वीरों को चलता हुआ दिखा सकती थी। अपनी धुन के पक्के लुमियर बन्धुओं ने जब इस जादू को 7 जून 1896 को पहली बार लोगों को दिखाया तो लोगों ने दांतों तले अंगुली दबा ली। यह समय भारतीय जीवन के लिए हर दृष्टि से अभाव का समय था। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी बुनियादी चीजें व्यक्ति से कोसों दूर थीं। ऐसे में सिनेमा का आना किसी अजूबे जैसा ही था। एक तथ्य के अनुसार मूक युग में कुल 1288 फ़िल्मों का निर्माण हुआ। इनमें से सिर्फ़ 13 फ़िल्में ही राष्ट्रीय अभिलेखागार में उपलब्ध हैं।

¹ ज्ञानेश उपाध्याय, बहुवचन-39, अक्टूबर-दिसंबर 2013, पृष्ठ-10

आरंभिक तेरह फ़िल्में

दादा साहब फ़ालके की ‘राजा हरिश्चन्द्र’ तथा ‘कालिया मर्दन’। इन दोनों फ़िल्मों की लम्बाई 1500 फुट थी। इसके अलावा ‘श्री कृष्ण जन्म’(475 फुट) तथा ‘लंका दहन’(501 फुट), हिमांशु राय की ‘प्रेम संन्यास’, ‘सिराज’ और ‘प्रपञ्च पास’, जी.पी पवार की ‘दिलेर जिगर’ और ‘गुलामी का पतन’ हरिलाल एम.भट्ट की ‘पितृप्रेम’ (1300 फुट), पी.एन.राव की ‘मार्तण्ड वर्मा’, ‘संत तुकराम’ (500 फुट) तथा ‘भक्त प्रह्लाद’ (519 फुट)। इसके अतिरिक्त जो फ़िल्में मूक फ़िल्मों के विकास में सहायक सिद्ध हुई हैं वे हैं-‘मोहिनी भस्मासुर’, ‘सावित्री सत्यवान’, ‘सैरन्धी’, ‘सिंहगढ़’, ‘कल्याण खजाना’, ‘बिल्ब मंगल’, ‘चिन्तामणि’, ‘यशोदा नन्दन’ ‘साधू कि शैतान’, ‘इन्द्रजीत’, ‘लेडी टीचर’, ‘सती सिमातनी’, ‘हर गौरी’, ‘शिवा जी’, ‘रजिया सुल्तान’, ‘चरित्रहीन’, ‘सती मदालसा’, ‘राम बनवास’ ‘कच देवयानी’ ‘भक्त विदुर’, ‘काला नाग’, ‘मालती माधव’, ‘गृहलक्ष्मी’, ‘चन्द्रमुखी’, ‘राजलक्ष्मी’, ‘रसीली राधा’, ‘अछूत’ जैसी फ़िल्मों ने मूक फ़िल्मों को एक नयी दिशा दे दी। पारसी थियेटर के प्रभाव ने मूक सिनेमा को व्यावसायिकता से जोड़ दिया इसमें ‘मधुर मोहिनी’, ‘सिंहल द्वीप की परी’, ‘वीर अभिमन्यु’, ‘खबाबे हस्ती’, ‘सिनेमा गर्ल’, ‘अनारकली’, ‘माधुरी’, ‘खूनी खंजर’, ‘उदयकाल’, ‘चन्द्रसेना’, ‘जुल्म’, ‘बाजीराव मस्तानी’, ‘हातिमताई’, ‘तूफान मेल’, ‘दिलरूबा डाकू’ आदि फ़िल्मों का भी निर्माण हुआ।

इतिहास की दृष्टि से देखें तो स्पष्ट है कि भारत गुलामी की जंजीर में इस कदर जकड़ा हुआ था कि किसी विद्रोही चीज की कल्पना भी उनके लिए घातक थी क्योंकि यह वह समय था जब भारतीय जीवन पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। जब खेत-खलिहान और खून पसीना किसानों का था पर उसमें उगने वाले अनाजों पर हक अंग्रेजों का था। श्रम भारतीयों का था पर उससे मिलने वाला फल ब्रिटिशों का। साहित्य की दृष्टि से देखें तो उसके लिए यह समय नवीन विचाराधाराओं और तमाम नई साहित्यिक विधाओं के आरम्भ का था। सामाजिक बिसंगतियां और आडम्बर भी अपने चरम पर थे। ऐसे में निर्देशकों के सामने एक चुनौती थी कि वह किस तरह की फ़िल्मों का निर्माण करें क्योंकि दर्शकों का मनोविज्ञान समझना भी उनके लिए एक अलग तरह की चुनौती थी। इस समय की अधिकतर फ़िल्मों में धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और पंचतंत्र जैसे विषयों को लिया गया इसका एक कारण यह भी था कि आम जनता अभी साहित्य की नवीनता से परिचित

नहीं हो सकी थी लिहाजा ऐसे विषयों पर फ़िल्म का निर्माण निर्देशकों को ज्यादा सार्थक लगा।

आजादी के बाद का सिनेमा

‘देश 1947 में आजाद हुआ, तो मानो फ़िल्मी संगीत को कोठों और नाटकीयता के करीब पहुँच रही शास्त्रीयता से आजादी मिली। दो फ़िल्मों ने भारत में संगीत के व्याकरण को काफी हद तक बदल दिया और संगीत को सुगम-सुलभ-सरस बना दिया। 1949 में ही राजकपूर की ‘बरसात’ फ़िल्म रिलीज हुई थी, जिसमें शंकर-जयकिशन ने कमाल कर दिया था। इसी वर्ष दूसरी संगीत प्रभावी फ़िल्म थी, कमाल अमरोही की ‘महल’, जिसमें संगीतकार खेमचंद प्रकाश ने भी संगीत को सुगम बनाने में योगदान दिया। लता मंगेशकर के नेतृत्व में देश के ज्यादातर गायकों की आवाज भी आजाद हुई और नकल या नाक के प्रभाव से अपनी-अपनी मौलिक आवाज की ओर गायक बढ़ चले। वाकई मौलिकता ही शानदार निर्माण में कारण होती है। देश में भी अनेक मौलिक कार्य हो रहे थे और फ़िल्मी दुनिया में भी अनेक मौलिक कार्य हो रहे थे। फ़िल्में पूरी तरह से देश का साथ देने लगी थीं। पंडित नेहरू की नीति समाजवाद के निकट थी, तो ज्यादातर फ़िल्में भी समाजवादी प्रभाव में थीं।’²

आजादी के बाद का सिनेमा हिंदी सिनेमा के इतिहास का स्वर्णिम अध्याय माना जाता है। वह ‘आजाद मानसिक क्षमता की स्वतंत्र अभिव्यक्ति है। इस समय के सिनेमा में जो भी रचा गया लाजवाब रचा गया। आजादी के बाद जो भारत हमें मिला वह हमारे सपनों का भारत नहीं था। जिस भारत को हमने पाया वह लहूलुहान था, कराह रहा था, सामंती विचारधारा के लोगों ने और अवसरवादियों ने इस समय का प्रयोग अपनी तिजोरियां भरने और जो कुछ बिखरा है उसे अपने लिए समेटने में किया। ऐसे में सिनेमा ने भारतीय जनमानस को मानसिक संबल देने और आपसी भाईचारा बढ़ाने में बहुत सहयोग किया। “आजादी के बाद एक-दूसरे के बीच वैमनस्य की नींव पड़ गयी जो देश की राष्ट्रीयता एवं संस्कृति के लिए बड़ा खतरा था। अतः कौमी एकता और साम्प्रदायिक सौहार्द उत्पन्न करने के लिए सिनेमा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ‘पड़ोसी’ जैसी फ़िल्म के माध्यम से सिनेमा ने सांप्रदायिक ताकतों पर गहरा प्रहार किया तथा यह संदेश देने का प्रयास किया कि पड़ोसी सिर्फ़ पड़ोसी होते हैं न कि हिन्दू या मुसलमान। आजादी के तत्काल बाद बनने वाली फ़िल्में न केवल राष्ट्रीय

² ज्ञानेश उपाध्याय, बहुवचन-39, अक्टूबर-दिसंबर 2013, पृष्ठ-14

भावनाओं पर आधारित थीं बल्कि इनमें सामाजिक सवालों के रोमानी संवेदनाओं का भी पुट था।³

हिंदी सिनेमा का स्वर्ण काल : साठ का दशक

साठ के बाद का हिंदी सिनेमा कई तरह के विषयों को लेकर प्रस्तुत हुआ। सामाजिक मुद्दा हो या घर-परिवार, रिश्ते की टूटन और कलह, विद्रोह हो या प्रेम सभी को पर्दे पर इस तरह चित्रित किया गया कि वह देखने के बाद मस्तिष्क में आजीवन के लिए चिह्नित हो गया। नेहरू और मार्क्स के विचारों का प्रभाव इस समय के सिनेमा पर तेजी से पड़ा लिहाजा सामाजिक समस्याओं और देशभक्ति पर आधारित फिल्मों का निर्माण तेजी से हुआ। इस समय के सिनेमा की एक खासियत और है कि फिल्मों में असली भारत की तस्वीर दिखी। लोकजीवन, लोकभाषा, लोकगीत, खेत, खिलिहान, गांव, किसान सभी के लिए स्पेस बनाया गया, जो सुखद है। इस दौर का सिनेमा हमें अपने समाज और संवेदना से जोड़े रखने में सफल हुआ। हिंदी सिनेमा में आजादी के बाद का समय अपनी युवावस्था में पहुंच चुका था जो अपने सपनों की ऐसी दुनिया का निर्माण करने में व्यस्त हो गया जहां से कई तरह के सवालों का जन्म होता है।

इस समय में एक तरफ गंभीर फिल्में बन रही थीं तो दूसरी तरफ लोकप्रिय और मनोरंजन वाली फिल्में बन रही थीं और दोनों ही फिल्में अपने-अपने तरीके से सामाजिक यथार्थ को व्यक्त कर रही थीं। इस समय की फिल्मों में लोकजीवन को अन्दर तक महसूस किया जा सकता है। हिंदी फिल्मों के निर्देशकों ने अपनी फिल्मों में अपनी जमीन को छोड़ा वह उनकी फिल्मों में बराबर नज़र आता रहा। इसका एक कारण यह भी था कि अधिकतर फिल्मकार, लेखक गांव से ही आए थे तो स्वाभाविक है वह अपनी फिल्मों में अपने समाज का चित्रण करेंगे ही। ‘बैजू बावरा’, ‘परिणीता’, ‘नया दौर’, ‘गंगा जमुना’, ‘जागते रहो’, ‘जिस देश में गंगा बहती है’, ‘गंगा मैया तोहे पियरी चढ़देहों’, ‘तीसरी कसम’, ‘सारा आकाश’, ‘हीर रांझा’ जैसी फिल्मों में गांव की सामाजिक समस्याओं को पूरा स्थान मिला। 60 के बाद की फिल्मों में हर तीन चार फिल्मों के बाद एक फिल्म ऐसी आ ही जाती जिसमें गांव के जीवन का चित्रण हुआ करता था। ‘गोदान’ जैसी कालजयी कृति पर बनी फिल्म में

³ पुष्पपाल सिंह, ‘भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास’, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 52

ग्रामीण जीवन की मर्मिक गाथा और उनके संघर्ष को बहुत ही सलीके से पेश किया गया। बाद में शहरी प्रभाव ने हिंदी सिनेमा से गांव को लगभग खत्म ही कर दिया। गांव के नाम पर ऐसे स्थानों को दिखाया जाने लगा जो बनावटी से लगते हैं। गांव की सच्ची तस्वीर को प्रस्तुत करने में फ़िल्मकारों को दिक्कत महसूस होने लगी। जब लाखों किसान कर्ज से आत्महत्याएं कर रहे थे और जीवन-यापन में सुधार के लिए अपनी जमीन छोड़कर शहरों की तरफ भाग रहे थे तब की तस्वीर हिंदी फ़िल्मों में बाद में लगभग गायब हो गयी। बाद में गुलजार और सत्यजीत रे ने प्रेरमचन्द की कहानियों ‘पूस की रात’, ‘कफन’, ‘सद्गति’ आदि फ़िल्मों में गांव का असली चेहरा दिखाने की कोशिश की।

हिंदी सिनेमा में 60 का दशक भारतीय सिनेमा की राजनैतिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इस दशक की शुरूआत ही के आसिफ की फ़िल्म ‘मुगले आज़म’ से हुई जिसने बॉक्स पर नया रिकार्ड बनाया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इसमें रोमांटिक संगीत और अच्छी पटकथा का अच्छा समायोजन था। दर्शकों के लिए यह मात्र मनोरंजन की फ़िल्म थी किन्तु इस फ़िल्म का सामाजिक और तत्कालीन राजनैतिक दृष्टि से भी अपना विशेष महत्व है। ‘अनारकली’ और ‘सलीम’ की प्रेमकथा तो मात्र कहानी के विस्तार के लिए थी। निर्देशक का निशाना तो कहीं और था। इस संदर्भ को फ़िल्म आलोचक जवरीमल्ल पारख बहुत ही पारखी नज़र से नेहरू युग की विसंगतियों से जोड़कर देखते हुए लिखते हैं कि—“इसकी मुख्य कथा सलीम और अनारकली की प्रेमकथा है लेकिन इसमें समानान्तर एक कथा और चलती है जो संगतराश के बारे में है। यह संगतराश फ़िल्मकार का एक काल्पनिक चरित्र है जो उस मध्य युग में यथार्थवादी भित्तिचित्र बनाता है। इन चित्रों के माध्यम से वह बादशाह के जुलमों को उकेरता है— “इस तरह की यथार्थवादी कला और इस तरह का जनविरोध मध्ययुग में मुकिन ही नहीं था। यह आजादी की लड़ाई और नेहरू के प्रभाव का परिणाम था। फ़िल्मकार के आसिफ ने संगतराश के जरिए इस फ़िल्म में कलाकार के प्रतिरोध के अधिकार का सवाल भी उठाया है। मुगले आज़म में इसी आधुनिक यथार्थ को अकबर के युग पर आरोपित कर दिया है। इन्हीं सब कारणों से इस फ़िल्म को नेहरूयुग का राष्ट्रीय युग का रूपक कहा जा सकता है।”⁴

⁴ पारख जवरीमल्ल, लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ, पारख जवरीमल्ल, पृष्ठ 39

इस समय का सिनेमा यथार्थ के नए आयामों के साथ प्रस्तुत हुआ। यह वही समय था जब हमारे देश को अपने ही पड़ोसी राष्ट्रों चीन (1962) एवं पाकिस्तान(1965) के धोखे से किए गए आक्रमणों का सामना करना पड़ा। इसी दौर में फिल्म उद्योग में मनोज कुमार जैसे कलाकार का आगमन हुआ जिसने अपने ‘भारत’ नाम के किरदार के जरिए कई फिल्मों के पात्रों को अमर ही नहीं किया बल्कि पूरे देश में ‘भारत’ के नाम से मशहूर भी हो गए। 1965 में आयी फिल्म ‘शहीद’ में भगत सिंह के किरदार को उन्होंने लगभग जीवन्त सा कर दिया था जिसे देखकर उनकी मां ने भी खुद इन्हें भगत सिंह के नाम से पुकारा था। वर्ही भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री माननीय श्री लाल बहादुर शास्त्री जी ने जब इस फिल्म को देखा तो मनोज कुमार को खुद मिलने के लिए दिल्ली बुलाया और उनसे कहा कि, आप देश के जवानों और किसानों को ध्यान में रखकर एक फिल्म का निर्माण करें। मिलने के 24 घंटे के अंदर ही बम्बई पहुंचते-पहुंचते ट्रेन में ही मनोज कुमार ने लाल बहादुर शास्त्री जी द्वारा दिए गए ‘जय जवान जय किसान’ के नारे को चरितार्थ करते हुए ‘उपकार’ नाम के फिल्म की कहानी लिख दी जो 1967 में प्रदर्शित हुई तो इसने देशभक्ति फिल्मों की सफलता का नया इतिहास रख दिया। ‘मेरे देश की धरती’ के अलावा ‘मन्ना डे’ द्वारा गाया गया और प्राण पर फिल्माया गया गाना ‘कम्से वादे प्यार वफा सब बातें हैं, बातों का क्या’ का जिक्र किए बौरे ‘उपकार’ पर कोई बात पूरी हो ही नहीं सकती। इस फिल्म में जिस यथार्थवादी दृष्टि से देश के किसानों और जवानों की महत्ता को जोड़कर एक साथ प्रस्तुत किया गया वैसा आज तक किसी फिल्म में देखने को नहीं मिलता। मनोज कुमार ने देशभक्ति की पृष्ठभूमि को लेकर ही ‘पूरब और पश्चिम’ फिल्म का निर्माण किया। इसी के साथ ‘रोटी कपड़ा और मकान’ जैसी सामाजिक यथार्थ परक फिल्म का भी निर्माण किया जबकि दूसरी ओर इसी समय में ‘संगम’, ‘उसने कहा था’, ‘जब जब फूल खिले’, ‘गाइड’, ‘जंगली’, ‘दो बदन’ , ‘तीसरी कसम’ जैसी आदर्शवादी प्रेम परक फिल्मों का निर्माण भी तेजी से हो रहा था। इस तरह की फिल्मों की भी किसी तरह की आलोचना नहीं की जा सकती क्योंकि हर समय का यथार्थ अपने कई रूपों में होता है जिसे अलग-अलग निर्माता अलग-अलग तरह की फिल्में बनाकर हिंदी फिल्म के विकास में अपना योगदान दे रहे थे। यथार्थ की कोई निश्चित परिभाषा या समय सीमा नहीं होती वह अपने समय और समाज की हलचलों के हिसाब से बदलता भी है। जवरीमल्ल पारख लिखते हैं- “यथार्थ खुद कोई सीधी और सरल रेखा की तरह नहीं है। समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संबंधों और तनावों से इसी यथार्थ का निर्माण होता है।

और समय के साथ-साथ इन संबंधों और संघर्षों का स्वरूप बदलता है, उसी के अनुरूप यथार्थ भी बदलता रहता है। इस निरंतर बदलने वाले यथार्थ को प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्गीय बोध और वैयक्तिक ग्रहण क्षमता के अनुसार समझता और हस्तक्षेप करता है। सिनेमा इसी रूप में यथार्थ का एक अंग भी है और उसमें एक हस्तक्षेप भी।⁵

1990 के अंत तक हिंदी सिनेमा का इतिहास सर्वार्थिम और ऐतिहासिक रहा है। इस दौर में सशक्त निर्देशक, अभिनेता, अभिनेत्री हिंदी सिनेमा को मिले जिन्होंने अपनी क्षमता से हिंदी सिनेमा को ऊँचाई दी और वैश्विक स्तर पर उसके स्वरूप को बदला भी। नसीरुद्दीन शाह, ओम पुरी, स्मिता पाटिल, शबाना आजमी, अमरीश पुरी, कुलभूषण खरबंदा, मोहन आगाशे, अमोल पालेकर जैसे महत्वपूर्ण अभिनेता-अभिनेत्रियों ने हिंदी सिनेमा को तमाम साहित्यिक और सामाजिक विमर्शों में शामिल कर दिया। 'भुवन शोम', 'मृगया', 'एक अधूरी कहानी', 'फणिअम्मा', 'घट श्राद्ध' 'पार', 'अर्यांत्रिक', 'सुवर्ण रेखा', 'पाटी', 'प्रतिद्वंद्वी', 'पोस्टर', 'शंकराभरण', ये वो मंजिल तो नहीं', 'निशांत', 'संस्कार', 'वंशवृक्ष', 'चक्र', 'नागरिक', 'इंटरव्यू', 'औरत', 'उसकी रोटी', 'चश्मे बदूर', 'कथा', 'दामुल', 'जाने भी दो यारों' आदि फिल्मों ने सिनेमा के इतिहास को बदलकर रख दिया।

भूमंडलीकरण के दौर का सिनेमा

भूमंडलीकरण का अर्थ 'व्यापक पहुँच' से है। जब देश अपनी सीमितताओं से ऊपर उठाकर अन्य देश से व्यापारिक समझौता करता है तो भूमंडलीकरण का जन्म होता है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण का पक्षधर है। उसका मूल स्वभाव ही निजीकरण है। उदारीकरण का अर्थ है मूल अर्थ व्यवसाय से जुड़ा है। जनता के लिए उपयोग में आने वाली वस्तुओं का कई देशों में व्यापार करना भी भूमंडलीकरण है। विदेशी कंपनियों को किसी भी देश में रोज़मर्रा की वस्तुओं के विक्रय के लिए वहाँ की सरकार से आदेश लेना पड़ता है। भूमंडलीकरण जहां भी अपना विस्तार करता है वहाँ जनता और व्यवस्था के हिसाब से अपना स्वयं का नियम बनाता है। भूमंडलीकरण समाज को कई प्रकार से प्रभावित करता है। सरकार को समाज के काम आने वाले वस्तुओं का निजीकरण करता है। साथ ही

⁵ पारख जवरीमल्ला, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, पृष्ठ 21

अंतर्राष्ट्रीय संगठन जैसे ‘विश्व व्यापार संगठन’ के लिए नियम निर्धारित करता है। जब भी कोई देश भूमंडलीकरण की प्रक्रिया द्वारा किसी दूसरे देश में व्यापार करना चाहता है तो उसके नियमों को मानना ही पड़ता है। कई बार दूसरे देश से लेन-देन के लिए सरकार को अपने बनेबनाए नियम को बदलना पड़ता है।

भूमंडलीकरण का प्रभाव परिवार पर भी पड़ता है। भारत में आरंभिक समय से ही संयुक्त परिवार का चलन था। अब इसका स्थान एकाकी परिवार ने ले लिया है। हमारी संस्कृति, रहन-सहन, तीज-त्योहार, धार्मिक उत्सव आदि में बड़ा परिवर्तन हुआ है। आजकल जन्मदिन, विवाह की सालगिरह आदि उत्सवों में लोग फास्ट-फूड वाले रेस्तरा आदि की तरफ आकर्षित होते हैं। भारत में फास्ट फूड का चलन तो भूमंडलीकरण के बाद ही आरंभ हुआ। भूमंडलीकरण ने हमारी संस्कृति, सभ्यता, खाना-पीना यहाँ तक की उत्पादन के उपयोग की प्रक्रिया में भी बदलाव ला दिया है। आज हम प्रत्येक वस्तु को ऑनलाइन खरीदने के आदी हो चुके हैं। अब तो ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो ऑनलाइन न मिलती हो।

इक्कीसवीं सदी का सिनेमा

आज 21वीं सदी के हिंदी सिनेमा में जो परिवर्तन आए हैं, वह अश्लीलता की अवधारणाएँ लेकर अवतरित हो रहे हैं। ऐसा नहीं है कि सिर्फ अश्लील फ़िल्में ही बन रही हैं। आज भी उद्देश्यपूर्ण फ़िल्में बन रही हैं। यथार्थता का समावेश अधिक हुआ है, लेकिन दृश्यों में जो अश्लीलता आई है, वह 19-20वीं शताब्दी की फ़िल्मों में अश्लीलता इस हद तक देखने को नहीं मिलती थी। आज के हिंदी सिनेमा में काफी बदलाव आ चुका है। परिवर्तन तो प्रकृति का नियम है। मार्कर्स ने माना है, ‘‘हर विकासशील वस्तु अपने भीतर अपने प्रतिपक्ष को समाहित किए हुए होती है, जो इस पूर्व स्थिति में नहीं रहने देता।’’⁶

आज हिंदी सिनेमा, विज्ञापन और टी.वी. संस्कृति ने समाज में अश्लीलता की नई अवधारणाएँ तथा नवीन नैतिकता का विकास किया है। भूमंडलीकरण तथा हॉलीवुड ने भारतीय हिंदी सिनेमा को विशेष रूप से प्रभावित किया है, जिससे बॉलीवुड में अश्लीलता के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आ गया है। इसमें नंगापन का समावेश इस हद तक हो चुका है कि हम अपने परिवार के साथ बैठकर फ़िल्म नहीं देख सकते। पहले अगर फ़िल्मों में या टी.वी.

⁶ अमरनाथ, ‘हिंदी आलोचना की पारिभाषित शब्दावली’, पृ० 177

पर कोई ऐसा दृश्य आता, जिसमें युगल शारीरिक रूप से निकट आते, तो परिवार के बड़े लोग चुपचाप उठकर चले जाते, पर आज वह एहसास बोध भी समाप्त होता जा रहा है। आज श्लील एवं अश्लील में कोई भेद नहीं रह गया है। कुछ वर्ष पूर्व से अश्लीलता का जीवंत रूप देखने को मिल रहा है—‘हॉलीवुड फ़िल्मी सितारों के अनुकरण हमारे सिनेमा में निरन्तर होते चले आ रहे हैं। यदि वहाँ चुम्बन और रति-मुद्राएं आम हैं तो हमारे यहाँ भी धड़ल्ले से आ चुकी हैं। अब तो स्थिति यह आ गई है कि सिनेमा अभिनेत्रियों में जबरदस्त प्रतिस्पर्धा है। कौन कितना ज्यादा उघड़ (एक्सपोज) सकती है। प्रत्येक शुक्रवार को उद्घाटित होने वाली फ़िल्मों में कोई न कोई बाला है, जो नंगे होने के पिछले रिकॉर्ड को मात देती हुई अपना अलग कदम उठाती है’,⁷

वैश्वीकरण ने आज राजनीतिक व्यवस्था, अर्थव्यवस्था के साथ सामाजिक सांस्कृतिक क्षेत्रों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। भूमंडलीकरण का प्रभाव भी सिनेमा में देखा जा सकता है। इन प्रभावों के कारण सिनेमा के प्रकृति तथा कथानकों में भी काफ़ी हद तक परिवर्तन दिखाई पड़ता है— ‘फ़िल्मों की लोकप्रियता फ़िल्म की अंतर्वस्तु और कलात्मक अंतर्वस्तु पर नहीं बल्कि ऐसे बाहरी तत्वों पर ज्यादा निर्भर रहती है, जिसका फ़िल्म की गुणवत्ता से प्रत्यक्षः कोई संबंध नहीं होता। मसलन, अभिनेताओं की ‘मर्द’ छवि अभिनेत्रियों के ‘यौन सौन्दर्य’, हिसा के उत्तेजक दृश्य, नृत्य और संगीत का उन्मादपूर्ण इस्तेमाल आदि लोकप्रिय सिनेमा के अनिवार्य तत्व बन गए हैं, ताकि इनके द्वारा मनोरंजन की एक खास तरह की संकल्पना को स्थायित्व प्रदान किया जा सके।’⁸

आज की अभिनेत्रियाँ वक्षोज, जंधाओं, टाँगों के प्रदर्शन में किसी से पीछे रहना नहीं चाहतीं, क्योंकि सिनेमा में आज विभिन्न कलाओं के समायोजन के साथ ही एक बड़ी पूँजी का निवेश होता है। आज बाजार ही सर्वोपरि है। अतः फ़िल्में एक उत्पाद की भूमिका निभा रही हैं, जिनके लिए मुनाफ़ा कमाना ही अंतिम लक्ष्य होता है। आज की वही फ़िल्में ज्यादा हिट होती हैं, जो ज्यादा हॉट दृश्य के साथ हॉट अभिनेत्रियों को पेश करता है। आजकल यथार्थवादी फ़िल्में बनाना मुश्किल हो गया है, क्योंकि बाजारवाद का ढाँचा ऐसा

⁷ जवरीमल्ल पारख; ‘भूमंडलीकरण और भारतीय सिनेमा’, रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (सम्पादक), पृ० 61-62

⁸ जवरीमल्ल पारख; ‘भूमंडलीकरण और भारतीय सिनेमा’, रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (सं), पृ० 67

बन गया है, जहाँ यथार्थवाद की जगह अश्लीलतावाद अपना कब्जा जमाए हुए है। आज ‘सेक्सी’, ‘हॉट’, ‘सीजलिंग’, आदि गौरवपूर्ण संबोधन हो गए हैं। पहले ये शब्द गाली प्रतीत होते थे, क्योंकि इन सारे शब्दों का प्रयोग वेश्या, कॉलगर्ल या दुश्चरित्र समझी जाने वाली लड़कियों के लिए होता था। पर आज ये शब्द गौरवपूर्ण प्रतीत होते हैं। आज के समाज की लड़कियाँ इन शब्दों का संबोधन पाकर, पूरी तरह से गदगद हो जाती हैं। सिनेमा की इस अश्लीलता का प्रभाव हमारे भारतीय समाज पर पूरी तरह से हावी हो गया है।

आज की युवा पीढ़ी जितने छोटे कपड़ों में तथा अर्धनग्न दिखती है, वह उतने ही स्वयं को मॉडर्न समझती है तथा इस समाज में अपने को फिट पाती है- “जिन लोगों ने एक नवोदित सिने अभिनेत्री को पुरस्कार ग्रहण करने के लिए मंच पर इस रूप में जाते देखा कि उसे वक्षों का केवल काला भाग ही कुर्तेनुमा वक्ष के दोनों पल्लुओं से ढँका था, शेष पूरा सामना उघड़ा हुआ, उन्हें देखकर यह धक्का अवश्य लगा होगा कि भारतीय समाज अश्लीलता की यह कौन सी परिभाषा गढ़ रहा है, जिससे वक्ष का केवल अग्र भाग ही ढँका होना चाहिए-जब तक वह नहीं उघड़ता तब तक कुछ अश्लील नहीं है।”⁹ अतः इनकी वेशभूषा तथा अंलकरणों से यही पता चलता है कि बॉलीवुड हॉलीवुड संसार से किसी भी स्तर पर कम नहीं है।

पहले जहाँ सिनेमा के केन्द्र में स्त्री का चेहरा होता था, वहीं आज सिनेमा के केन्द्र में स्त्री की देह है। 21वीं सदी के हिंदी सिनेमा में स्त्री का देह-प्रदर्शन नारी-मुक्ति का पर्याय बन गया है। वास्तव में यह नारी मुक्ति नहीं है, बल्कि मुक्ति का छलावा देकर बाजारवाद के हवाले करने की कवायद भर है। यह परिवर्तन भूमंडलीकरण की देन है, जिसमें सफल भी रहे हैं।

21वीं सदी के सिनेमा में कंटेन्ट और फार्म दोनों ही स्तर पर बदलाव हुआ है। टेक्नीकल स्तर पर हिंदी सिनेमा ऊँचाई के स्तर तक पहुँच गया है। 21वीं सदी के सिनेमा ने 20वीं सदी के आखरी दशक तक की स्त्री के सन्दर्भ में बनी तमाम सीमाओं को तोड़ डाला है। ऐसी फिल्मों में ‘चाँदनी बार’ (2001), ‘लज्जा’ (2001), ‘चमेली’ (2004), ‘गर्लफ्रेंड’ (2004), ‘पेज श्री’ (2005), ‘चीनी कम’ (2007), ‘हनीमून ट्रेवल्स प्रा.लि.’ (2007), ‘लागा चुनरी में दाग’ (2007), ‘निःशब्द’ (2007), ‘फैशन’ (2008), ‘लक बाई चांस’ (2009), ‘इश्किया’ (2010), ‘लव, सेक्स और धोखा’ (2010), ‘मर्डर-2’ (2011), ‘द

⁹ जवरीमल्ल पारख, ‘भूमंडलीकरण और भारतीय सिनेमा’, रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (सं), पृ.

‘डर्टी पिकचर’ (2011), ‘सात खून माफ’ (2011), ‘जिस्म-2’ (2012), ‘इश्कजादे’ (2012), ‘हिरोइन’ (2012), ‘शुद्ध देशी रोमांस’ (2013), ‘इनकार’ (2013), ‘साहब, बीवी और गैंगस्टर रिटर्न’ (2013), ‘रागिनि एम.एम.एस.’ (2014) आदि फिल्में इस बात को प्रमाणित करती हैं कि हिंदी सिनेमा अश्वीलता से संबंधित दृश्यों पर अधिक मुख्य होने लगा है, जो हिंदी सिनेमा के परिपक्व साहस का ही परिणाम है।

अश्वीलता सिर्फ दृश्यों में ही नहीं दिख रही है, बल्कि गानों तथा नृत्यों में भी परिलक्षित होती है। आज ‘आइटम सॉप्स’ तथा ‘आइटम नम्बर्स’ में नृत्य की रति मुद्राएं और फैशन ऐसे हैं जो भारतीय परिवेश में स्वीकार्य नहीं। ‘बीड़ी जलाइ ले’, ‘किस-मी स्लो, स्लोली’, ‘खटिया सरका लई’, ‘पड़ोसी के चूल्हे से आग लै लड़ए’, ‘साड़ी के फॉल से’, ‘शीला, शीला की जवानी’, ‘मुन्नी बदनाम हुई’, उलला, उलला, तू है मेरी फैनटेसी’, ‘चिकनी चमेली’ आदि ऐसे ही गाने हैं, जो सुनने में भी अश्वीलता झलकती है, यह अश्वीलता किस कोटि की है?

अश्वीलता से तात्पर्य केवल दो अंगों के उधार तक ही केन्द्रित नहीं होना चाहिए, बल्कि किसी गाने के बीच में अभिनेता के सामने से पीठ कर तौलिया खोल देना आदि भी अश्वील है। गानों के शब्दों में, संवादों के शब्दों तथा फूहड़ हास्य- कार्यक्रमों में भी द्व्यर्थक अश्वील शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग हो रहा है। पहले भी हर वर्ष दुनिया की सबसे ‘सुंदरी प्रतियोगिता’ का आयोजन होता था, उसमें चेहरा, हाइट, बौद्धिक क्षमता आदि का समावेश होता था, पर आज हर वर्ष दुनिया की सबसे अधिक हॉट तथा सेक्सी दिखने वाली प्रतियोगिता हो रही है। अब दुनिया की सबसे अधिक सेक्सी, एशिया की सबसे अधिक सेक्सी आदि का चुनाव हो रहा है।

बच्चे फिल्मों के अधिक दिवाने होते हैं। शुक्रवार को जब नई फिल्म प्रदर्शित होती है, तो पहले बच्चों की अखबार में सबसे ज्यादा रूचि यही पढ़ने में होती है कि कौन सी नई फिल्म आ रही है। सिनेमा के प्रति नई पीढ़ी का यह मोह स्वाभाविक तो लगता है, लेकिन प्रश्न यह है कि क्या आज की फिल्में बच्चों के देखने के लायक हैं? सिनेमा बच्चों को क्या दे रहा है, ऐसा नहीं है कि बच्चे फिल्म नहीं देख रहे हैं, देख रहे हैं धड़ल्ले से देख रहे हैं। दुःख की बात यह है कि सिनेमा की जो अश्वीलता है, उसका अनुकरण हमारे समाज की नई पीढ़ी उसे अपनाने में गौरवान्वित महसूस करती है- ‘बच्चे हर दौर में सिनेमा को देखते, गुनते और गुनगुनाते चले आ रहे हैं, लेकिन सिनेमा के प्रति अतिशयोक्तिपूर्ण चाहत में कई बार यह बात

भूल जाते हैं कि सिनेमा में जो कुछ भी दर्शाया जा रहा है, वह सारा का सारा असली नहीं है, यह एक नाटक है। बच्चे सिनेमा तो देखें, लेकिन उसका अंधानुकरण न करें”¹⁰

इतना ही नहीं इस दौर की फिल्मों से गाँव के जीवन की समस्याएँ कहीं लुप्त हो गईं, जबकि भारत गांवों का देश है। यह हिंदी सिनेमा का दुर्भाग्य ही है- “सन 2000 आते-आते हमारा फिल्म माध्यम थोड़ा और उदार हो गया। जिस तरह हमारे समाज में तेजी से शहरीकरण हो रहा है, उसी रफ्तार से फिल्मों से ग्राम समुदाय विलुप्त होता चला गया। चौपाल, तालाब और पीपल के छांव के बाजार भाव कम हो गए। फलस्वरूप ‘दिल चाहता है’ के महानगरीय युवाओं की जीवनशैली हमें प्रभावित करने लगी और इसे ही हम आज का सर्वोत्तम फलसफा स्वीकार करने लगे।”¹¹

आवश्यकता इस बात की है कि जो भी फिल्म बने वह मनोरंजन के साथ-साथ उद्देश्यपूर्ण भी हो तथा अश्लील दृश्यों पर ध्यान दे ताकि उसमें नंगापन का समावेश कम हो। आज बाजारवाद की ऊँचाइयों पर पहुँचने के बाद यह न भूल जाए कि इससे पूरा भारतीय समाज प्रभावित हो रहा है। हिंदी सिनेमा की कहानी अब बदल चुकी है। इमोशन, एक्शन, ड्रामा, कॉमेडी, अभिनय, शक्ति, सूरत और अंदाज सबसे भारी बदलाव आया है। विच्छयात अभिनेता आशुतोष राणा कहते हैं- “हिंदी सिनेमा के सौ सालों का सार ये है कि ज्यादातर फिल्मों में कहानी एक नायक से शुरू होती है, जो नायिका के पीछे भागता है, उसे मोहित करने कई स्वांग रखता है, जोगिम उठाता है और जैसे ही नायक-नायिका मिलते हैं, कहानी खत्म होती है। सच कहें तो हिंदी सिनेमा यानी बॉलीवुड के नामी डायरेक्टर्स ने अपनी फिल्मों में रोमांटिसिज्म, सोशल इश्वूज, नेशनलिज्म को अपनाया जरूर है, लेकिन नुमाइंदगी का अंदाज सभी का अलग-अलग है। ‘अंदाज-ए-बयां’ ही इनका आधार है, इनके फिल्मों की बुनियाद है। ‘लीक से हटकर जो फिल्म बनाता है वो दुनिया से अलग नहीं सोचता बल्कि किसी एक सूक्ष्म पहलू को विस्तार से समझता है, कई दफा दिखाता है, नई दिशा देता है, यही डायरेक्टर्स की सफलता का फार्मूला है।”¹²

आशुतोष राणा आगे कहते हैं कि फिल्मों में जो प्रेम दिखाया जाता था वह भी काफी बदल चुका है। “कई दशकों से बॉलीवुड फिल्मों ने प्यार की परिभाषा दी- लव ऑफ फर्स्ट साइट,

¹⁰ शशांक दुबे, ‘बच्चों का सिनेमा और सिनेमा के बच्चे’, आजकल, नवंबर 2014, पृ- 47

¹¹ संजीव श्रीवास्तव, हिंदी सिनेमा का इतिहास, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, पृ-43

¹² योगेश वैष्णव, आउटलुक, अगस्त , 2017

यानी पहली नजर में प्यार हो जाता है। अनिल कपूर, शाहरुख खान, आमिर खान और अक्षय कुमार, इमरान हाशमी ने शुरूआती दौर में कई फ़िल्में किंजो इस परिभाषा को सार्थक सिद्ध करता रहा। फ़िल्म में नायिका से पहली बार गुफ्तगु होते ही नायक तय कर लेता, कि ये वही है जिसे वो सपनों में देखता है। ये वही है जिसे पाकर पूरे कायनात की खुशी उसके मुँड़ी में होगी, ये वही है जिसके लिए वो दुनिया से जीतना चाहता है लेकिन सिर्फ़ इसी एक के आगे वो अपना सर भी झुकाता है, आखिर दिल जो जीतना है।”¹³

आज का सिनेमा जीवंत के कटु सत्य को उसी तरह प्रस्तुत करता है जिस तरह वह दिखता है। आदर्श और नैतिकता के नाम पर उसे छिपाया नहीं जाता है। आशुतोष राणा भी सिनेमा को सामाजिक परिवर्तन का कारण मानते हुए उसे समज का आईना कहते हैं—“सिनेमा समाज का प्रतिनिधि नहीं बल्कि प्रतिबिंब है। जैसे-जैसे समाज बदलता है, सिनेमा भी बदलता है। पहले हमारे हीरो टीचर, पुलिसवाले या फिर क्रांतिकारी हुआ करते थे। वे समाज के उन तबकों से होते थे जो समाज में स्वच्छ छवि रखते थे या विशेष होते थे। साहूकार, जर्मांदार और अन्य ताकतवर लोग विलेन के तौर पर होते थे जो सत्ता की ताकत का इस्तेमाल खुद के लिए करते थे। लेकिन समय ने करवट ली। जंजीर में अमिताभ बच्चन कॉमनमैन को लेकर आए। थोड़े समय तक काला पत्थर, सुहाग, मुकद्दर का सिकंदर में इसी तरह का हीरो नजर आया। विलेन भी उसी के मुताबिक आना लाजिमी था।”¹⁴

¹³ योगेश वैष्णव, आउटलुक, अगस्त, 2017

¹⁴ आशुतोष राणा, इंडिया टुडे, 29 सितंबर 2014